

संसद में राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर हुई बहस के बाद शिक्षामंत्री के निर्देश पर एनसीईआरटी ने पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति को 'शैक्षिक दृष्टि से अनुपयुक्त सामग्री' को चिह्नित कर अपने सुझाव देने थे। यह लेख सवाल करता है कि किसी भी पाठ्यसामग्री के संदर्भ में यह कैसे तय किया जाएगा कि वह 'शैक्षिक दृष्टि से उपयुक्त है या अनुपयुक्त'? इसे तय करने के मानदण्ड क्या होंगे? यह लेख इस संदर्भ में सामग्री को परखने के लिए कुछ मापदण्ड भी प्रस्तावित करता है।

‘अनुपयुक्त’ का मतलब क्या है?

पाठ्यपुस्तकों के विवाद पर विचारणीय प्रश्न

रोहित सेठी

दोहरान

दो सप्ताह पहले, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् की कक्षा 11 की किताब 'भारत का संविधान : सिद्धांत और व्यवहार' में 1949 में संविधान निर्माण की गति की हंसी उड़ाने वाले एक कार्टून ने संसद में विरोध को प्रोत्साहित किया और उस किताब को तुरंत ही प्रचलन से बाहर करके वापिस ले लिया गया। इसके साथ ही, केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने 'अनुपयुक्त' सामग्री की जांच का आदेश दिया और इस किताब को बनाने में शामिल रहे हर आम व खास के प्रति कार्रवाई का वादा किया। नए स्कूली साल के करीब आने की शुरुआत में, कक्षा 11 के बच्चे तब तक प्रमुख शिक्षण सामग्री से महरूम रहेंगे जब तक कि सरकार इन किताबों की तकदीर के बारे में कोई निर्णय नहीं ले लेती।

परिचय

मिशीगन विश्वविद्यालय से नेहरू फुलब्राइट शोधकर्ता हैं। वे अभी क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, मैसूर में काम कर रहे हैं। उनका काम अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों में शैक्षिक सुधारों और शिक्षक शिक्षा के अभ्यासों के बीच अंतर्संबंधों पर केन्द्रित है।

सदन के पटल पर अकाली दल की सांसद सुश्री हरसिमरत कौर बादल ने इस बात की ओर इशारा किया कि सवालियों के घेरे में आए कार्टून में प्रधानमंत्री नेहरू डॉ. भीमराव अंबेडकर पर चाबुक फटकारते नजर आ रहे हैं। बगैर बढ़ा-चढ़ा कर कहें तो इस नजरिए में डॉ. अंबेडकर को काफी खराब तरीके से पेश किया गया और इस तरह की तथाकथित बेइज्जती को काफी गंभीरता से लिया गया। हालांकि पाठ्यपुस्तकों के खिलाफ

व्यापक मामले को खड़ा करने संदर्भ में देखें तो कार्टून एक शुरुआती बिंदु नजर आता है। सांसद बादल के मुताबिक समस्या यह थी कि, “ये किताबें आसानी से प्रभावित हो सकने वाले युवा दिमागों को जहरीला बना रही हैं।”

दूसरे सांसदों ने फुर्ती से मामले को धर पकड़ा। भाजपा के नेता यशवंत सिन्हा ने दलील दी, “ये सभी राजनीतिज्ञों के घटियातम कार्टूनों का संग्रह है। राजनीति, राजनीतिज्ञों के प्रति (विद्यार्थियों के) दिमागों को घृणा के सांचे में ढालने वाली और लोकतंत्र को जोखिम में डालने वाली हैं।” उन्होंने दलील दी कि ये सभी कार्टून “राजनीति के खिलाफ सुव्यवस्थित तरीके से झूठी अफवाहें” थे। सोनिया गांधी ने जाहिरा तौर पर सिन्हा की टिप्पणी की सराहना में अपनी मेज थपथपाई। सिर्फ एक को छोड़कर, सभी सांसद एकमत थे, शिक्षा मंत्री कपिल सिब्बल, केन्द्रीय वित्त मंत्री प्रणव मुखर्जी ने सारगर्भित बयान दिए। मुखर्जी ने घोषणा की, “सभी एतराज के काबिल सामग्रियां, अगर जरूरी हुआ तो पूरी की पूरी किताब ही वापिस ले ली जाएगी। जवाबदेही भी तय की जाएगी” और कपिल सिब्बल ने टिप्पणी की, “मेरी राय यह है कि इन कार्टूनों में ज्यादातर चित्रण अपमानजनक और पाठ्यपुस्तकों के लिहाज से अनुपयुक्त हैं।” सिब्बल ने आखिर में अपनी बात पूरी करते हुए कहा, “सरकार संवेदनाओं को पूरी तरह से समझती है और वह यह सुनिश्चित करेगी कि सिर्फ शैक्षिक तौर पर उपयुक्त सामग्री ही पाठ्यपुस्तकों में शामिल की जाए।”

दांव पर क्या लगा है?

अब तक राजनीति विज्ञान पाठ्यपुस्तक समिति के दो सदस्य, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के लिए सलाहकार के तौर पर काम करने वाले प्रोफेसर सुहास पलशीकर और प्रोफेसर योगेन्द्र यादव, इस प्रकरण के शिकार हो चुके हैं। संसद में हुई बहस के अगले ही दिन पुणे विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पलशीकर के कार्यालय में तोड़-फोड़ की गई। लेकिन, इस मामले में दांव पर इससे भी कहीं ज्यादा बड़ी चीजें लगी हैं।

ये पाठ्यपुस्तकें उस कार्यसूची का हिस्सा थीं जिसके तहत सन् 2005 में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा स्वीकार की गई थी। उस वक्त से, भारत में शिक्षण ज्यादा विद्यार्थी केन्द्रित शिक्षणशास्त्रीय तौर-तरीकों की ओर मुड़ना शुरू हुआ था, जिनकी बुनावट विद्यार्थियों में सृजनशीलता और खोजबीन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती थी। वह सब अब खतरे में है। सिर्फ कक्षा 11 की किताब ही कांटों की सेज पर नहीं है, बल्कि मंत्री सिब्बल ने कक्षा 9 से 12 तक की सामाजिक विज्ञान और राजनीति विज्ञान की सभी छह किताबों की समीक्षा के लिए समिति नियुक्त कर दी है। असल में, बाकी बची सभी किताबों के प्राण भी संकट में नजर आते हैं। जिस कार्यसूची के तहत इन पाठ्यपुस्तकों की पैदाइश हुई है और जो सबक वे सिखाती हैं, उन्हें छोड़ा नहीं जाना चाहिए।

यह सारा का सारा घटनाक्रम दो सप्ताह पहले घट चुका है। और अब जबकि आम जन और कई सारे अकादमिक भी इसमें शामिल हो सकते हैं, तब इस घटनाक्रम के शैक्षिक नतीजों के परिमाण का अच्छा खासा संकट मंडरा रहा है। मंत्री सिब्बल द्वारा जांच समिति नियुक्त करने का निर्णय इस कहानी का अंत नहीं है।

भारतीय सामाजिक विज्ञान शोध परिषद् के अध्यक्ष श्री सुखदेव थोराट की अध्यक्षता में नियुक्त की गई समिति को “शैक्षिक तौर पर अनुपयुक्त सामग्री” की पहचान करने के लिए कहा गया।

थोराट समिति से ‘अनुपयुक्त’ सामग्री की जगह पर पाठ्यपुस्तकों में उपयुक्त सामग्री रखने के लिए सुझाव भी मांगे गए हैं। समिति इन किताबों की तकदीर के बारे में अहम् निर्णय लेगी। बगैर किसी रोक-टोक के इन सभी निर्णयों को स्वीकृति मिलने से 2005 से अब तक की गई तरक्की पर महत्वपूर्ण असर पड़ेगा।

न टाले जा सकने वाले सवाल

किसी भी समिति के कामकाज में जो शामिल होते हैं वे अपनी दिशा तय करने के लिए कुछ सवालों के समूह से अपना काम आरंभ करते हैं। तो पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा करते वक्त समिति द्वारा खुद से पूछे जाने वाले सवालों के बारे में क्या उम्मीद करनी चाहिए? क्या होगा यह जानने के लिए मैं संभावित सवाल रखूंगा, जो कि समिति अपने-आपसे पूछेगी और मैं कुछ विचार पेश करूंगा जो कि उन सवालों के उपयुक्त जवाब हो सकते हैं।

पहला सवाल : हम 'अनुपयुक्त' को परिभाषित कैसे करेंगे?

अगर कार्टून और पाठ्यपुस्तकों के साथ मुश्किल यह है कि वे 'उपयुक्त' हैं या 'अनुपयुक्त', तो शैक्षिक संदर्भ में कसौटी यह होनी चाहिए कि वे 'शैक्षिक' हैं या 'कु-शैक्षिक' (मिस-एज्युकेटिव)। कु-शैक्षिक की शब्दावली का इस्तेमाल अमेरिकन शैक्षिक दार्शनिक जॉन डिवी ने करीब 80 बरस पहले किया था। लेकिन यह आज भी मददगार है। डिवी के मुताबिक, किसी भी चीज को हम 'कु-शैक्षिक' कह सकते हैं अगर उसमें बच्चों को कठोर हृदय वाला बनाने की संभावना हो, उसे पिटी-पिट्टाई लीक पर चलने के लिए मजबूर करे, उसमें लापरवाह रवैये को बढ़ावा दे या अलग-अलग विचारों में संबंध जोड़ने में उसकी मदद न करे। 'कु-शैक्षिक' सीखने के औजार का असर यह होता है कि उससे वृद्धि में या तो रुकावट आ जाती है या फिर उसका स्वरूप बिगड़ जाता है।

ये चार खासियतें यह तय करने में मददगार हैं कि यह कार्टून कु-शैक्षिक है या अनुपयुक्त। कोई भी इस बात की अनदेखी नहीं कर सकता कि यह कार्टून किसी वीराने में अकेला मौजूद नहीं है। पाठ्यपुस्तक की किसी भी तस्वीर को शिक्षक जिस संदर्भ में बच्चों को पढ़ाता है, उसे उससे अलग करके नहीं समझा जा सकता, तो जनता और राजनेता को ऐसा क्यों करना चाहिए? इस जगह पर आकर मैं शुरुआती विश्लेषण पेश करूंगा, जो शायद वैसा हो या शायद वैसा न हो जैसा कि थोराट समिति ने अपने जिम्मे काम लिया है।

नीचे दी गई लिखित सामग्री पाठ्यपुस्तक में कार्टून के साथ-साथ दी गई है :

संविधान सभा की सत्ता केवल इस बात पर ही नहीं टिकी थी कि वह मोटे तौर पर (हालांकि पूर्ण रूप से नहीं) सबका प्रतिनिधित्व कर रही थी। संविधान बनाने के लिए अपनाई गई प्रक्रिया और सदस्यों के विचार-विमर्श की जड़ में छुपे मूल्यों में ही संविधान सभा की लोकप्रिय सत्ता का आधार था। संविधान सभा के सदस्यों ने विचार-विमर्श में चर्चा और तर्कसंगत दलीलों पर बहुत जोर दिया। उन्होंने सिर्फ अपने हितों को ही आगे नहीं बढ़ाया, बल्कि दूसरे सदस्यों को समझाने के लिए, अपने पक्ष के लिए सिद्धांतों के आधार पर तर्क दिए। दूसरों को तर्क देने का काम आपको अपने हितों की संकीर्ण व्याख्या से दूर हटाता है क्योंकि आपको दूसरों को अपने नजरिए से सहमत करने के लिए तर्क देना पड़ता है। संविधान सभा की बहसों कई मोटे-मोटे खंडों में प्रकाशित हुई हैं, जिसमें हर अनुच्छेद को लेकर जितनी बारीकी और विस्तार से बातचीत हुई है वह अपने बेहतरीन रूप में सार्वजनिक विवेक के लिए सम्मान की बात है। ये बहसों अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्ति की तरह ही संविधान निर्माण के इतिहास में सबसे अहमतरनी व यादगार अध्यायों में से एक है।

अंबेडकर तो गांधी व कांग्रेस के कड़े आलोचक थे और उन पर अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए पर्याप्त काम न करने के आरोप लगाते थे। पटेल और नेहरू कई मुद्दों पर आपस में असहमत थे। फिर भी सभी ने एक साथ मिलकर काम किया। हरेक समिति ने आमतौर पर

संविधान के खास-खास प्रावधानों के प्रारूप तैयार किए, जिन पर बाद में पूरी संविधान सभा में बहस की गई। अक्सर कोशिश यह की जाती थी कि प्रावधानों पर आम राय से फैसले लिए जाएं और वे फैसले किन्हीं खास हितों की तरफदारी न करते हों। कुछ प्रावधानों पर मत डालकर निर्णय लिए गए। लेकिन हरेक मामले में एक-एक दलील, सवाल या सरोकार का पूरी सावधानी के साथ और लिखित में जवाब दिया गया। दो बरस व ग्यारह महीनों के दौरान संविधान सभा की 166 दिन तक बैठकें चलीं। इसके सत्रों में आम जनता और संचार माध्यमों, दोनों को ही हिस्सा लेने की बराबर आजादी थी।

इस कार्टून को पढ़कर समझने का एक तरीका यह हो सकता है कि इसमें संविधान को बनाने में लग रही “घोंघे की रफ्तार” पर आम जन की समझ व उसकी कुंठा को दर्शाया गया है। कार्टून को पढ़ने का एक दूसरा तरीका यह हो सकता है कि कोई इसे देखकर इस नतीजे पर पहुंचे कि इसमें ऐतिहासिक रूप से राजनीतिज्ञों द्वारा की गई निरुत्साहपूर्ण कोशिशों का अपमान किया गया है। हालांकि लिखित सामग्री में डॉ. अंबेडकर की बेइज्जती करने का कोई सुराग नहीं मिलता। हकीकत में तो, साथ में दी गई लिखित सामग्री डॉ. अंबेडकर की इस बात के लिए तारीफ करती है कि उन्होंने संविधान सभा के दूसरे सदस्यों द्वारा उठाए गए हर मत और सरोकार पर पूरी सावधानी के साथ पूरा-पूरा ध्यान दिया था। जिस तरह से विवरण और तस्वीर एक-दूसरे के प्रति पूरकता दर्शाते हैं और जिस संतुलित तरीके से लिखित सामग्री व तस्वीर छात्राओं/छात्रों से कुछ आलोचनात्मक चिंतन करने के लिए कहती है, मुझे यह समझ में नहीं आता कि कैसे यह लिखित सामग्री और उसके साथ दिया हुआ कार्टून निष्ठुरता पैदा कर सकता है या कैसे छात्राओं/छात्रों को पिटी-पिटाई लीक पर चलने के लिए मजबूर कर सकता है या लापरवाह रवैया पैदा कर सकता है या कैसे इसे साथ में दिए विवरण से काटकर अलग से देखा जा सकता है?

असल में, यह दलील दी जा सकती थी कि यह कार्टून और इसके साथ दिया गया विवरण इस अर्थ में शैक्षिक है कि इसमें छात्राओं/छात्रों के दिमागों में सवाल उठाने की संभावनाएं मौजूद हैं कि इस राजनैतिक प्रक्रिया को इस काम में इतना वक्त क्यों लगा। पाठ्यपुस्तक के इस हिस्से का केन्द्रीय मुद्दा यह है कि डॉ. अंबेडकर संविधान बनाने के काम को अंजाम तक पहुंचाने के भागीरथी काम में जुटे थे और इसमें शामिल राजनीतिज्ञ मिलकर काम कर रहे थे और इसे पूरा करने के लिए अपने-अपने पक्ष के लिए सिद्धांत आधारित तर्क दे रहे थे। अगर जिम्मेदारी से पढ़ाया जाए, तो छात्राओं/छात्रों को यह समझ में आना चाहिए कि राजनीति करना कड़ी मेहनत का काम है और किसी भी राजनैतिक काम को करने में वक्त लगता है। यह नजरिया “राजनीति के खिलाफ सुव्यवस्थित तरीके से झूठी अफवाहों” से एकदम ही अलग है, जिसके लिए राजनीतिज्ञों ने पाठ्यपुस्तकों के लेखकों को फटकारा है। ऊपर से, यह लिखित सामग्री और कार्टून तो छात्राओं/छात्रों के राजनीतिज्ञों के बारे में पहले से बनी बनाई धारणाओं को अस्त-व्यस्त करने का माद्दा रखता है।

संदर्भ से काटकर देखा जाए तो यह समझा जा सकता है कि कोई यह महसूस कर सकता है कि कार्टून में भारत के महान चिंतकों व कर्मठों की बेइज्जती की जा रही है। बेशक नेहरू डॉ. अंबेडकर के पीछे एक चाबुक लेकर खड़े हैं, जो कि बेशक एक क्षुब्ध कर देने वाली छवि है। लेकिन ‘अनुपयुक्त’ मानने के लिए, मेरी कसौटियों पर यह खरा उतरता नजर नहीं आता। लेकिन यह अहम् सवाल, कि “शैक्षिक तौर पर अनुपयुक्त” का क्या मतलब होता है, समिति के लिए शुरुआत करने का एकदम सटीक रास्ता है।

दूसरा सवाल : अगर इसको और इसके जैसे दूसरे कई सारे कार्टूनों को हटा दिया जाता है तो पाठ्यपुस्तक की शैक्षिक संभावनाओं का क्या अंजाम होगा?

सुसंगत पाठ्यपुस्तकें बनाना मुश्किल होता है, लेकिन किसी पाठ्यपुस्तक के असरकारी होने के लिए एक

कहानी कहने की जरूरत पड़ती है। किसी भी शिक्षण और सीखने के औजार में अच्छा खासा विवरण देना जरूरी होता है। उसमें ऐसी एक कहानी जरूर होनी चाहिए जिसे छात्रा पढ़कर नतीजा निकाल सकें और अपने शब्दों में उसका मतलब समझ सकें। इसे और ऐसे ही दूसरे कई कार्टूनों को हटाने या बदलने, जैसा कि अब थोराट समिति बहस कर रही होगी, से निश्चित तौर पर वह कहानी जिस तरह से बुनी गई थी, वह उससे काफी बदल जाएगी। अगर पाठ्यपुस्तक इस बात का विस्तार से औचित्य नहीं बताती कि क्यों संविधान को बनने में इतना वक्त लगा, तो हरेक विद्यार्थी की समझ अधूरी ही रहेगी। संविधान सभा की बहसों के बगैर भारतीय संविधान के बारे में सीखना उन मूल्यों को छुपा देगा जिन बहसों के जरिए वे संविधान के जोड़े गए थे। कहानी के इस हिस्से के बगैर, बच्चों को नामों, तारीखों और जगहों से ज्यादा बताने के कुछ नहीं बचता है।

हमारा संविधान और सरकार, 1971 की पाठ्यपुस्तक से लिया एक उदाहरण संविधान सभा की कहानी को यहां देखा जा सकता है। पाठ्यपुस्तक में शुरुआत में संविधान सभा की भूमिका को याद किया गया है।

संविधान सभा की बैठक 9 दिसंबर 1946 को नई दिल्ली में संसद के केन्द्रीय कक्ष में हुई। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सर्वसम्मति से संविधान सभा के अध्यक्ष चुने गए।

संविधान सभा ने संविधान का प्रारूप बनाने के लिए एक आठ सदस्यीय समिति नियुक्त की। अनुसूचित जातियों के अगुवा डॉ. अंबेडकर को उस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। संविधान का प्रारूप बनाने वाली समिति के सदस्यों में दूसरों के साथ-साथ श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी और श्री अलादि कृष्णास्वामी अय्यर भी शामिल थे। उन्होंने संविधान बनाने में प्रमुख भूमिका अदा की।

संविधान का प्रारूप फरवरी 1948 तक तैयार हो गया था। देश के प्रमुख अखबारों में इसका प्रकाशन किया गया ताकि जनता इस पर अपनी राय दे सके। आठ महीनों बाद संविधान का प्रारूप संविधान सभा में रखा गया। सबसे पहले इसकी प्रमुख खासियतों पर आम चर्चा की गई। इसके बाद अलग-अलग अनुच्छेदों पर विस्तृत चर्चा की गई। आखिर में पूरे संविधान पर समग्रता में चर्चा की गई। आखिरकार संविधान 26 नवंबर 1949 को पारित हुआ। हमारे संविधान को बनाने में हमें करीब-करीब तीन साल लगे (संविधान सभा की पहली बैठक से लेकर)।

पूरी किताब में इन तीन अनुच्छेदों में संवैधानिक बहस को समेटा गया है और इसमें डॉ. अंबेडकर की कड़ी मेहनत को न्यूनतम करके दिखाया गया है। उस जमाने की पाठ्यपुस्तकों की तरह इसकी लिखित सामग्री में जोर नामों, तारीखों और जगहों पर दिया गया है। इस हिस्से के आखिर में दिए गए सवाल में इस बिंदु के बारे में विद्यार्थियों की समझ को जानने के लिए उनसे सिर्फ नामों, तारीखों और जगहों के बारे में पूछा गया है।

पेचीदा प्रक्रिया को दरी के नीचे ढांप दिया गया। यह तो दर्ज किया गया कि प्रारूप बनाने में तीन साल का वक्त लगा, लेकिन उस प्रक्रिया को आम चर्चा, विस्तृत चर्चा और एक और आम चर्चा कह कर बताया गया। यह शब्दावली बेमतलब की है। रटने के लिहाज से बेहद आसान लेकिन इसमें किसी किस्म की कोई जानकारी नहीं है और यह आपमें इतनी-सी भी रुचि पैदा नहीं करती कि आप निगाहें उठाकर इसकी ओर देखने की जहमत तक उठाएं।

एकरंगी तथ्य खतरनाक होते हैं। इस किस्म की पाठ्यपुस्तकों को पढ़कर निकलने वाले विद्यार्थी बगैर किसी शक के इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि इतिहास और राजनीति बेहद उबाऊ और नीरस चीज होती है। और हम

जानते हैं कि इस किस्म की पाठ्यपुस्तकों को शिक्षक किस तरह से पढ़ाते हैं। इसे याद करने में बहुत कम मेहनत की जरूरत पड़ती है कि भारतीय संविधान के बारे में सीखना कितना पीड़ादायक हुआ करता था। एक अमेरिकन शिक्षाविद् के शब्दों में कहें तो, इस किस्म की पाठ्यपुस्तकें थीमविहीन जानकारी के ऐसे उबाऊ पुलिंदे से हरगिज ज्यादा नहीं होंगी, जिससे नतीजे में कुछ हासिल नहीं होता। सवालों को उठाने के लिए, पहले से जाने हुए के बीच पुल बनाने के लिए और उन्हें एक विचारपूर्ण चर्चा के जरिए गुजरने का आनंद लेने के लिए समर्पित पाठ्यपुस्तक एक दुर्लभ मोती की भांति होती है।

राजनैतिक कार्टूनों को मटियामेट कर देने के चयन के गहरे नतीजे होते हैं। बच्चों को इस शुरुआती उम्र में उबाऊ लिखित सामग्री के जरिए राजनैतिक प्रक्रियाओं में मताधिकार से वंचित कर देना बेहद समस्याप्रद है। हमें इस बात से कतई हैरतमंद नहीं होना चाहिए कि छात्राएं/छात्र इतिहास और राजनीति के फायदों के बारे में निर्मम यानी कठोर हृदय हो गए हैं या आमजन अपने अधिकारों के बारे में लापरवाह रहते हुए बड़े हो रहे हैं।

कार्टूनों को हटाने के साथ एक दूसरी समस्या यह है कि यह बरसों की गई शोध के प्रति आंखें मूंद लेने जैसा होगा, जिससे यह जाहिर हुआ है कि कक्षा में इस्तेमाल किए गए कार्टूनों से बच्चों के सीखने व शैक्षिक लक्ष्यों को हासिल करने में फायदा होता है। उदाहरण के लिए, अगर एक राष्ट्र के तौर पर नागरिकता का ज्ञान, जुड़ाव और कुछ खास रवैए एक शैक्षिक लक्ष्य हैं, तब कुछ ऐसे शिक्षाशास्त्रीय औजार होने चाहिए जैसे कि राजनैतिक कार्टून जो कि स्वीकार्य ज्ञान की चूलें हिला सके (डाइस, 2007; आर्मस्ट्रांग, 2005)। अगर शैक्षिक लक्ष्य वयस्कों की दुनिया की संकेतों व उनकी नियमावली को समझने में बच्चों की मदद करना है और उसमें अगर दृश्यों में समरूपताएं यानी समानताएं, बहुविध मॉडलों के साथ लिखित सामग्री या चित्रों के साथ लिखित सामग्री और जीवंत इतिहास के सत्य प्रस्तुतीकरण इस्तेमाल नहीं किए जाएंगे, तब बच्चों के मौके सीमित हो जाएंगे (वर्नर, 2004; हैमेट एवं माथर 2011)। अगर शैक्षिक लक्ष्य, कौशलों का विकास करना है तो किताबों में दिए गए राजनैतिक कार्टून बच्चों में आलोचनात्मक चिंतन क्षमताएं, लेखन क्षमताएं, मौखिक सवाल पूछने की क्षमताएं और बहुविध मॉडलों में शामिल लिखित सामग्री को पढ़कर समझने में मदद करेंगे (वॉल्लर, 2004; डी फ्रेन, 1988; स्केनलेन एवं फाइनबर्ग, 2000)। इनको हटा देने से इन कौशलों के विकास में रोड़ा अटक जाएगा। दशकों के शोध अध्ययनों ने हमें यह दिखलाया है कि कक्षा में कार्टूनों के इस्तेमाल का शैक्षिक मूल्य होता है। इस अहमियत को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए।

तीसरा सवाल : किस कसौटी पर हमें पाठ्यपुस्तकों का मूल्यांकन करना चाहिए?

द थॉमस फोर्डहेम इंस्टीट्यूट ने हाल ही में एक अध्ययन प्रकाशित किया है जिसका नाम है, *ए कन्ज्यूमर्स गाइड टू हार्ड स्कूल हिस्ट्री टैक्स्टबुक्स*। इस अध्ययन में अमेरिका में बड़े पैमाने पर काम में ली जाने वाली 12 अमेरिकन इतिहास व विश्व इतिहास की किताबों का इस्तेमाल किया गया। मशहूर शिक्षा इतिहासकार डाइने रेवित्व ने दूसरे विशेषज्ञों के समूह के साथ मिलकर पाठ्यपुस्तकों के मूल्यांकन में मदद करने के लिए 12 कसौटियां विकसित कीं। कसौटियां मुख्यतः किताब की ऐतिहासिक सटीकता, सुसंगतता, संतुलन और लेखन की गुणवत्ता पर केन्द्रित थी। उन्होंने जिन कसौटियों का इस्तेमाल किया, उन्हें बॉक्स में दिया गया है। समीक्षकों ने ज्यादातर पाठ्यपुस्तकों को बदतरनीन यानी सबसे खराब पाया। सबसे बेहतरनीन किताबें सिर्फ ठीक-ठाक थीं। ऐसा नहीं है कि समीक्षकों को उनमें गंभीर गलतियां या विवादास्पद मुद्दे मिले थे। इसके बजाय, समग्रता में उन पाठ्यपुस्तकों में ज्यादातर ऐसी जानकारी थी जो कि गैर-महत्त्वपूर्ण, अरोचक और गैर-विवादास्पद थी। रपट में रेवित्व ने लिखा, “जीवंत तस्वीरों और तड़क-भड़क वाले आलेखों के बावजूद, वे सबकी सब ऊबाऊ/नीरस गद्य और ‘कहानी’ की गैर-मौजूदगी के असर को भुगत रही थीं (रेवित्व, 2004, पृ. 8)। लेखिका ने बताया, “उनका लेखन और संपादन करते समय एक निगाह बाजार पर तो दूसरी छुटपुट

हित समूहों पर रखी गई थी”।

1. सटीक : क्या लिखित सामग्री तथ्यों और ऐतिहासिक मुद्दों से जुड़े प्रस्तुतिकरण के संदर्भ में सटीक हैं?
2. संदर्भ : क्या लिखित सामग्री ऐतिहासिक घटनाओं और विचारों को संदर्भ में पेश करती है ताकि पाठक उसकी अहमियत को समझ सके?
3. संगठन : क्या लिखित सामग्री अमेरिका (या/विश्व) के इतिहास के अहम दौर, संस्कृतियों, घटनाओं व विचारों का एक सुव्यवस्थित, सुसंगत विवरण पेश करती है?
4. सहायक सामग्री का चुनाव : क्या लिखित सामग्री में सबसे अहम घटनाओं, विचारों और व्यक्तियों के साथ सार्थक, सटीक, ज्वलंत और रोचक कहानियां हैं?
5. पूर्वाग्रह की गैर-मौजूदगी : क्या लिखित सामग्री राजनैतिक या विचारधारात्मक पूर्वाग्रह से मुक्त है?
6. ऐतिहासिक तर्क : क्या लिखित सामग्री वर्तमान वाद और नैतिकतावाद से मुक्त है?
7. साहित्यिक गुणवत्ता : क्या लिखने की शैली ऐसी है कि वह पाठक को बांधकर रख सके?
8. प्राथमिक स्रोतों का इस्तेमाल : क्या लिखित सामग्री में अच्छी तरह से चयनित प्राथमिक स्रोत वाले दस्तावेजों का ठीक से इस्तेमाल किया गया है?
9. ऐतिहासिक समझदारी : क्या लिखित सामग्री राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास पर पर्याप्त ध्यान देती है?
10. लोकतांत्रिक विचार : क्या लिखित सामग्री में लोकतांत्रिक संस्थानों, मानव अधिकारों और कानून के राज के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है?
11. रुचि का स्तर : क्या इस पाठ्यपुस्तक के पढ़ने के बाद नतीजे के तौर पर छात्राएं/छात्र इतिहास के बारे में और ज्यादा जानना पसंद करेंगे?
12. आलेख : क्या लिखित सामग्री के साथ दिए गए आलेख और आजू-बाजू की पट्टियों में दी गई सामग्री पाठकों की इतिहास में रुचि व समझ को बढ़ाने में योगदान करती है?

इन रपटों के नतीजे हालांकि हैरतअंगेज नहीं हैं, हकीकत में वे कसौटियां ही थीं जिन्होंने उनकी रपट को असरकारी बनाया। मेरा मानना है कि ये कसौटियां मौजूदा वक्त में, थोराट समिति द्वारा की जा रही छानबीन के अंतर्गत, पाठ्यपुस्तकों के शैक्षिक मूल्यों को आंकने में मददगार हो सकती हैं। कोई भी यह कल्पना कर सकता है कि कई सारी कसौटियों का विकास राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के संकायों ने भी पहले से ही कर रखा होगा, जिसे समिति उनके पास से ले सकती है। कसौटियां कोई भी हों, कम से कम ऐसा कोई गहन तरीका इस्तेमाल किया जाना चाहिए जो कि निर्णय लेने की प्रक्रिया को राह दिखा सके।

आखिर में

संविधान सभा की बहसों पर दिए गए कार्टून तथा विवरण ने जो आग भड़काई है, उसमें कई पेचीदा मुद्दे भी शामिल हैं। लेकिन इस पाठ्यपुस्तक में केन्द्रीय रूप में जिस मुद्दे पर जोर दिया गया है उसे नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। संविधान सभा के कामकाज की लंबी प्रक्रिया के कारणों पर जोर देते हुए, लेखकों ने लिखा :

दूसरों को तर्क देने का काम आपको अपने हितों की संकीर्ण व्याख्या से दूर हटाता है क्योंकि आपको दूसरों को अपने नजरिए से सहमत करने के लिए तर्क देना पड़ता है।

भारत का संविधान : सिद्धांत और व्यवहार, पृ. 17

इस हिस्से की मंशा इस समझ को गढ़ने की है कि अपने भरोसों/विश्वासों को न्यायसंगत ठहराने के लिए तर्क/विवेक जरूरी होता है। मंशा किसी प्रक्रिया या उस प्रक्रिया के किसी भी हिस्सेदार का मखौल उड़ाने की नहीं है। न ही इस पाठ की मंशा किन्हीं घटनाओं की ऐतिहासिकता की आलोचना करने की है। इसका शिक्षणशास्त्रीय मकसद असल में बच्चों को राजनैतिक कामकाज की पेचीदगियों और बारीकियों को सीखने का मौका मुहैया करवाना है, जो कि “राजनीति के खिलाफ झूठी अफवाहों” से बहुत अलग है।

ऐसा लगता है कि संसद में हाल ही में मचे कोलाहल में यह संदेश कहीं खो गया है और अब थोराट समिति यह तय करने के काम में जुटी हुई है कि “शैक्षिक तौर पर उपयुक्त” क्या है। जोरदार बहस के लिए यह एकदम उपयुक्त समय है। बहुविध नजरियों को आगे बढ़ाने और उन पर तर्क किए जाने की जरूरत है। मैंने यहां पर जो मार्गनिर्देशक सवाल प्रस्तुत किए हैं वे इन पाठ्यपुस्तकों को गहराई से समझने का सिर्फ एक तरीका है। लेकिन, इस बात का मूल्यांकन करने के कई तरीके हैं कि क्या ये पाठ्यपुस्तकें शैक्षिक उद्देश्यों के लिए काम में ली जा सकती हैं या असल में ये ‘कु-शैक्षिक’ हैं। ऐसा करने से यह बहस व्यक्तिगत हितों के संकीर्ण दायरों से बाहर निकलकर एक तर्कसंगत बहस की ओर बढ़ेगी अपने बेहतरीन स्वरूप में राजनीति के एक जीवंत उदाहरण के तौर पर काम आ सकती है। ♦

भाषान्तर : रवि कान्त

संदर्भ

- आर्मस्ट्रांग पी. (2005) : “आलोचात्मक शिक्षणशास्त्र के रूप में व्यंग्य”, जीवन पर्यन्त सीखने में शोध के तीसरे अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पढ़ा गया पर्चा, स्टर्लिंग, इंग्लैंड, 2005 जून।
- डी फ्रेन, एम. (1988) : “लेखन और चिंतन के कौशलों के विकास में कार्टूनों का इस्तेमाल”, सामाजिक अध्ययन, 79(5): 221-24।
- धर, ए. (2012) : सरकार एनसीईआरटी के अधिकारियों के रोल की जांच करेगी (ऑनलाइन उपलब्ध <http://www-thehindu-com/news/national/article3418734-ece>)।
- डॉइस, के. (2007) : “स्टीव बेल्स की निगाहों में: कार्टून, भू-राजनीति और ‘आतंक के खिलाफ युद्ध’”, सिक्योरिटी डायलॉग, 38(2) : 157-177।
- हैमेट, डी. व सी. माथर (2011): (बियॉन्ड डिफेंडिंग : पॉलिटिकल कार्टून्स इन द क्लासरूम) जरनल ऑफ ज्योग्राफी इन हायर एज्युकेशन, 35(1) : 103-119।
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (2006) : भारत का संविधान : सिद्धांत व व्यवहार (नई दिल्ली : राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्)।
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (1971) : हमारा संविधान और सरकार (बम्बई : लीडर्स प्राइवेट प्रेस लिमिटेड)।
- रेवित्व, डी. (2004) ए कन्ज्यूमर्स गाइड टू हाई स्कूल हिस्ट्री टेक्स्टबुक्स (थॉमस फोर्डहैम इंस्टीट्यूट: ऑनलाइन पर मौजूद: www-eduUcellence-net/institute)।
- स्कैनले, एस. जे. तथा एस. एल फाइनबर्ग (2001) : “कार्टून समाज : समाज विज्ञान शिक्षण व सिखाने में सिंपसन का इस्तेमाल करना” टीचिंग सोशियोलोजी, 28(2): 127-139।
- वॉल्गर, के. (2004)। “मौखिक सवाल जवाब की क्षमताओं के विकास राजनैतिक कार्टूनों का इस्तेमाल करना। द सोशल स्टडीज, 95(1) : 11-15।
- वर्नर, डबल्यू. (2004) : “सामाजिक अध्ययन की पाठ्यपुस्तकें और राजनैतिक कार्टून पर। दृश्य समरूपताएं, लिखित सामग्री का अंतर्संबंध, और सांस्कृतिक स्मृति”, कनाडियन सोशल स्टडीज, 38(3) : स-12।